४५ "जैसी करनी वैसी भरनी" पर एक टिप्पणी

☐ डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

हम सभी सुनते आये हैं कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। 'जैसी करनी वैसी भरनी'। परन्तु हम में से बहुतों का यह अनुभव भी है, कि व्यवहार में इस मान्यता के उल्लंघन ही अधिक मिलते हैं। यदि अनुभव से इस मान्यता की पुष्टि नहीं होती तो इसे क्यों सही समझा जाय ? एक उत्तर यह हो सकता है कि यह मान्यता एक ऐसी दण्ड व्यवस्था की सूचक है, जो तब भी सक्रिय रहती है, जब मानवीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, और परिणाम-स्वरूप सन्मार्ग में प्रवृत्ति के लिए इसमें विश्वास सहायक है। परन्तु पुनः शंका होती है कि यदि ऐसी कोई दण्ड व्यवस्था है तो उसकी पुष्टि किस प्रकार होती है ? मानवीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' तो सर्वत्र सुनाई पड़ता है, परन्तु उस पुकार को कोई सुनता है, यह कैसे निश्चय हो, जबकि अनुभव इसके विपरीत है। पुराण तथा साहित्य के क्षेत्र से ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे कर्म-फल की संगति की युक्ति का औचित्य सिद्ध हो। परन्तु ऐसे सभी उदाहरणों के विषय में, विवाद की स्थिति (ऐतिहासिकता की दृष्टि से) होने से, इतना ही कहा जा सकता है, कि यह मान्यता मानवीय इच्छा की द्योतक है, हम चाहते हैं, कि ऐसा हो, पर ऐसा होगा, इसकी कोई गारन्टी नहीं। और यदि किन्हीं अवसरों पर ऐसी संगति मिल भी जाय तब भी यह सिद्ध नहीं होगा कि यह संगति अनिवार्य है। इसकी अनिवार्यता केवल तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उसका अपवाद असम्भव हो।

दूसरी ओर इस उक्ति की विलक्षणता यह है कि विपरीत अनुभव होने पर भी बुद्धि को यह बात युक्तियुक्त लगती है, कि जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायेगा। ऐसा क्यों ? इस सम्बन्ध में दो भिन्न प्रकार की बातों की ओर ध्यान जाता है। प्रथम तो कार्यकारण का सिद्धान्त, दूसरे कर्त्ता के सन्दर्भ में कर्म का जीवनवृत्त। यह बुद्धि की एक मांग है कि यदि घटनाएं बुद्धिग्राह्य हैं तो उनमें कार्यकारण सम्बन्ध प्राप्त होना चाहिए। यदि ऐसे संसार की कल्पना करें जिसमें कुछ भी सम्भव हो, किसी घटना के बाद कोई भी घटना हो जाती हो, तो वहां बुद्धि की कोई गति नहीं हो सकती—ऐसे संसार के विषय में किसी भी घटना के बारे में कोई युक्तियुक्त बात नहीं कही जा सकती। भविष्य के विषय में हमारी अपेक्षाएँ पहले तो हो ही नहीं सकतीं, और यदि हम किसी प्रकार की

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कल्पना कर भी लें, तो उसकी संभाव्यता के बारे में कोई निश्चय सम्भव नहीं होगा। इसके विपरीत मानवीय व्यवहार बड़ी सीमा में इस अपेक्षा पर निर्भर है कि घटनाओं में कोई परस्पर सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध को कार्यकारण के रूप में जाना जा सकता है, तथा इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर ही कर्म को सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, व्यवस्था एवं संगठन की अवधारणा ज्ञान तथा कर्म के लिए समान रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।

कुछ दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में यह शंका उठाई है कि कार्यकारण की अनिवार्यता का कोई बौद्धिक एवं आनुभाविक आधार नहीं है। घटनाओं के किसी क्रम विशेष को अनेक बार देखने पर एक घटना से दूसरी घटना की ओर हमारा ध्यान सहसा ही चला जाता है, और हम मान बैठते हैं कि एक दूसरे का कारण है। स्कॉटलैण्ड के दार्शनिक ह्यूम का यह मत दार्शनिकों के लिए भारी चुनौती रहा है। इस मत को यदि मान भी लें, तब भी इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि विषय ग्रहण के लिए बुद्धि की किंचित मांगों की पूर्ति आवश्यक है। इस बहस में जाये बिना तथा कम से कम इतना स्वीकार कर लेने पर कि घटनाओं में किसी प्रकार का क्रम देखना सम्भव है, उसका आधार चाहे कुछ भी हो, कर्म के विषय में भी यह अपेक्षा होती है कि कोई भी कर्म परिणाम स्वरूप किसी स्थिति विशेष में परिसमाप्त होता है। इस परिणाम तथा कर्म की ठोस प्रक्रिया में कोई सम्बन्ध होता है। यह उपयुक्त सम्बन्ध होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस ढांचे में हम कर्म तथा परिणाम को दो अलग-अलग स्थितियों–कारण तथा कार्य के रूप में देख रहे हैं।

यहां एक कठिनाई उपस्थित होती है और वह कर्म के जीवनवृत्त को दूसरे रूप में देखने के लिए बाध्य करती है। परिणाम को कर्म से अलग देखने से क्या तात्पर्य है ? हमने कहा कि परिणाम वह स्थिति है जिसमें कर्म की परिसमाप्ति होती है। तो क्या यह कहना अधिक संगत नहीं होगा कि परिसमाप्ति तक जो कुछ होता है, वह सब कर्म है ? किसी व्यक्ति का इच्छा करना, संकल्प करना, विषय अथवा स्थिति विशेष (लक्ष्य) के प्राप्ति के निमित्त उद्यम करना, लक्ष्य को प्राप्त करना—ये सभी अवस्थाएँ कर्म के जीवन वृत्त की विभिन्न अवस्थाएं हैं, और इनमें अन्तिम स्थिति कर्म के परिणाम की स्थिति है। इस अवस्था में कर्म तथा परिणाम का भेद वस्तुतः कर्म के अन्तर्गत ही पड़ेगा—कदाचित् 'कर्म' के स्थान पर केवल 'प्रक्रिया' कहना अधिक उचित होगा—प्रक्रिया तथा परिणाम कर्म के दो अंग होंगे जिनमें कारण और कार्य का सम्बन्ध मान सकेंगे। और फिर कारण तथा कार्य की संगति के सन्दर्भ में प्रक्रिया तथा परिणाम की संगति की चर्चा करना कदाचित् अधिक युक्तिसंगत होगा।

यहाँ प्रबुद्ध पाठक यह आपत्ति उठायेंगे कि कर्म फल की संगति, प्रक्रिया और परिणाम की संगति की बात नहीं है। इस आपत्ति को समझने के लिए

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक उदाहरण लें : 'क' ने 'ख' को चाकू से मार डाला। 'क' पकड़ा जाता है। उसे दण्ड मिलता है—उसे आजीवन कारावास दिया जाता है। इस स्थिति में 'चाकू मारना' तथा 'ख का मरना' कारण कार्य के रूप में देखे जा सकते हैं तथा प्रक्रिया एवं परिणाम के रूप भी। 'ख का मरना' क के लिए उसके कर्म का फल नहीं माना जायगा। अपितु 'क' का इस कर्म के लिए दण्ड पाना फल कहा जायगा। स्वयं 'क' की दृष्टि से देखें तो कदाचित् वह 'ख' को केवल जख्मी करना चाहता था, अथवा कदाचित् वह अपने तीव्र रोष को व्यक्त करना चाहता था। ऐसी अवस्था में फल के सम्बन्ध में 'क' की क्या अपेक्षा हो सकती थी? शायद यह कि 'ख' उसकी ताकत को पहचाने। अब 'ख' के चोट लगना, उसके प्राणों का घात, तथा 'क' की ताकत की पहचान 'ख' के लिए, ये एक ही बात नहीं है, और परिणामस्वरूप परिणाम, कार्य तथा फल भी एक ही चीज नहीं है। कर्म फल की संगति की दृष्टि से, यदि 'क' न्यायिक दृष्टि से दोषी था, तो उसका दण्ड पाना, संगति की पुष्टि के रूप में देखा जायगा। परन्तु 'क' (मान लीजिए, वह विवाहित है, उसके बच्चे हैं) की पत्नी तथा बच्चों को किस कर्म का फल मिला? वे हत्यारे के परिवार के सदस्य कहलायेंगे, उनके जीवन यापन पर संकट आयेगा, बच्चों के पालन पोषण, शिक्षा-दीक्षा पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा—ये सब उनके किस कर्म से जोड़ा जाय? इसी प्रकार, जिसकी हत्या हुई है, उसके परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है। स्थिति के ये दूसरे पक्ष कर्मफल संगति पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से अनेक उलझनों की ओर ध्यान जाता है। परिणाम, कार्य अथवा फल की अवधारणाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है? फल की बात करते समय हम एक सिलसिले में किसी एक कड़ी को क्यों चुनते हैं? इस विश्लेषण में घटनाओं को सामाजिक अर्थ देने से किस प्रकार की जटिलता उत्पन्न होती है? आदि। दूसरे जिन अवस्थाओं में फल तथा कर्म की संगति बैठती नहीं दीखती वहां किस प्रकार की व्याख्या सन्तोषजनक हो सकती है?

इन प्रश्नों के आलोक में एक बार कर्म के जीवनवृत्त पर पुनः दृष्टि डालें। हमने कर्म की विभिन्न अवस्थाओं को निम्नलिखित रूप में लिया : इच्छा, संकल्प, उद्यम तथा परिणाम (लक्ष्य की प्राप्ति/अप्राप्ति)। विश्लेषण की दृष्टि से कर्म के रूप का यह बड़ा सीधा सादा तथा स्पष्ट चित्रण मालूम पड़ता है। परन्तु यह अपर्याप्त विश्लेषण का परिणाम है, तथा केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सरल स्थिति है। यह अनावश्यक रूप में सरल क्यों है, इसमें किस प्रकार की जटिलताएँ हैं? इनकी ओर ध्यान दें। पहले तो 'इच्छा' स्वयं एक परिणाम है। किसी कर्म विशेष को अलग करने के प्रयास में ही हम उसे किसी इच्छा विशेष से जोड़ते हैं। परन्तु उसकी विशद समझ के लिए 'इच्छा' को समझना आवश्यक होता है। न्यायिक सन्दर्भ में बहुधा कर्म की प्रेरणा के विषय में प्रश्न उठाया

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

जाता है। यह समझ हमें एक दूसरे सिलसिले की ओर ले जाती है, और हम इच्छा को स्वभाव, उद्दीपन आदि के परिणाम अथवा कार्य के रूप में देखने लगते हैं। यदि और ध्यान से विचार करें, तो व्यक्ति जिस समाज में है, जिस युग तथा देश में है, तथा जिस सांस्कृतिक प्रवेश में है, उससे उसकी इच्छा के विषय में समझ बढ़ती है। इस प्रकार के सन्दर्भ उस अवस्था में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं, जब हम इच्छापूर्ति तथा उसके साधन पर कर्त्ता के विचार-विमर्श तथा अन्ततः उसके निश्चय पर ध्यान देते हैं। इस प्रकार कर्म का एक आन्तरिक इतिहास भी होता है, जो परोक्ष रूप में जाना, समझा जा सकता है। जब उद्यम के विषय में विचार करते हैं तो साधारणतया कर्त्ता की शारीरिक गति तथा मुद्रा की ओर ध्यान जाता है। परन्तु उद्यम की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाओं पर विचार करें, तो पता चलेगा कि बहुत कुछ हम मान कर चलते हैं, तो बहुत कुछ ऐसा भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता परन्तु जिसके बिना उद्यम सम्भव नहीं हो सकता। इन अवस्थाओं में गुरुत्वाकर्षण, देश, काल, शरीर की स्वस्थास्वस्थ अवस्था, शरीर की परिपक्वता, प्रशिक्षण (औपचारिक, अनौपचारिक), अभ्यास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवधान अथवा सुविधाएँ, जैसी अनेक बातें आती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उद्यम बिना एक वृहत् तथा व्यापक सन्दर्भ का अंग बने सम्भव नहीं हो सकता। और जब परिणाम पर दृष्टिपात करते हैं, तो पता चलता है कि परिणाम को नाम दिया जाना उस व्यक्ति तथा दृष्टि पर आश्रित है जिससे तथा जिसके द्वारा वह लक्षित हो। इस रूप में परिणाम कोई सरल एकिक स्थिति नहीं है, अपितु एक बहु आयामों से युक्त स्थिति है जिसे उसके किसी एक या अनेक आयामों के आधार पर नाम दिया जा सकता है, और जैसा पाठक लक्ष्य करेंगे नाम देना एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है तथा उसमें हमारे मूल्य एवं आदर्शों का समावेश होता है।

इस अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन से यह लगता है कि कर्म को एक सरल श्रृंखला के रूप में देखना, अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों की अवहेलना होगा। व्यक्ति के दायित्व, कर्म फल के रूप में उसे जो भोगना पड़ता है, व्यक्ति की परिवेश में परिवर्तन लाने की सामर्थ्य की सीमा—इन सभी के विषय में जो अनेक विवाद हैं, कदाचित् उनकी तह में कर्म के सम्बन्ध में उसे एक सरल श्रृंखला के रूप में देखना, तथा उसे एक पूरे तन्त्र के अंग के रूप में देखना—ये दो दृष्टियाँ विद्यमान हैं। दोनों का सम्बन्ध दो भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं से जुड़ा लगता है। जब हम कर्म को एक सरल श्रृंखला के रूप में देखते हैं तो हमारा लक्ष्य व्यक्ति के दायित्व को निश्चित करना होता है, और समाज में दण्ड या न्याय-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यहां हमारे सामने एक व्यावहारिक समस्या होती है, और हमें एक निर्णय लेना होता है—मुख्य रूप में हमारे सामने प्रश्न होता है 'किसने किया ?' इस सन्दर्भ में हम

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति को एक समर्थ कर्त्ता का दर्जा देते हैं, और यह मान कर चलते हैं कि वह चाहता तो जो उसने किया वह, वह नहीं भी कर सकता था, वस्तुतः उसे वैसा नहीं करना चाहिए था, उसे वैसा नहीं चाहना चाहिए था। हम मान लेते हैं, कि जो उसने किया उसका आरम्भ एक निश्चित इच्छा अथवा प्रेरणा थी, उसके परे सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। और इतना उसके कर्त्तृत्व को निश्चित करने के लिए पर्याप्त है, और निश्चित नियमों के आधारों पर हम व्यक्ति को उसके किए लिए उपयुक्त दण्ड का विधान करते हैं।

दूसरी ओर जब हम कर्म को 'समझना' चाहते हैं, जब सम्बन्धित कर्मफल की संगति के अपवाद सामने आते हैं, तब हम वैयक्तिक प्रणाली को छोड़कर समष्टिमूलक प्रणाली को अपनाते हैं। कर्म को समझने के लिए हम स्वभाव, आदत, तात्कालिक परिस्थिति, व्यक्ति का सांस्कृतिक परिवेश तथा अनेक दूसरे पहलुओं पर सोचते हैं, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है। हमें यह युक्तियुक्त नहीं लगता कि जो न किया हो उसका हमें फल मिले तथा जो किया हो उसका फल नहीं मिले। परिणामस्वरूप हमने जनम-जन्मान्तर की कल्पना की, अदृश तथा अपूर्व की कल्पना की। हमें लगा कि किसी व्यवस्था के बिना तो जीवन की कल्पना ही सम्भव नहीं है, वह व्यवस्था मूलतः न्याय, औचित्य, सत्य की रक्षा करती है। मानव स्वयं, (अपनी परिसीमा के कारण) किसी व्यवस्था को स्थापित करने, तथा उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहते हैं तो यह मूल व्यवस्था सक्रिय होती है तथा दैवी दण्ड विधान समाज की स्थिति तथा स्थिरता की रक्षा करता है। परन्तु यहां फिर एक और दिलचस्प बिन्दु की ओर ध्यान जाता है। मानवों के समाज में जो अव्यवस्था है, कर्मफल की जहां असंगति है, वहाँ वस्तुतः दैवी विधान ही सक्रिय है। हमें असंगति इसलिए दिखलाई पड़ती है कि हम पूरी शृंखला को नहीं देख पाते, जो पूरी शृंखला को देख सकता, जो जन्म-जन्मान्तरों में फैले जीवन का सारा गणित कर सकता, वह यह देख लेता कि मूलतः व्यक्ति ही अपने सारे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के लिए उत्तरदायी है। एक जन्म में जो असंगत लगता है, एक से अधिक जन्मों को देखने पर, संगति की अदृष्ट कड़ियाँ स्पष्ट हो जाती हैं।

परन्तु बहुत लोग जन्म-जन्मान्तर तथा अदृश को बीच में लाना पसन्द नहीं करेंगे। शायद वे कहें कि मानवीय सम्बन्धों में, मानव के क्रिया कलाप तथा उसके परिणामों के बीच किसी संगति को न तो पाया जा सकता है, और न स्थापित किया जा सकता है। फलतः कर्मफल की असंगति कोई समस्या नहीं है परन्तु ऐसी अवस्था में कोई भी समस्या नहीं होगी। परन्तु समस्याएँ तो हैं, अतः इस दृष्टि को छोड़ना होगा। तब उस अवस्था में कर्मफल की असंगति को कैसे समझा जाय ? 'क' की पत्नी तथा बच्चे हत्या के लिए उत्तरदायी नहीं हैं, तो वे उसका दण्ड क्यों भोगें ? शायद यहाँ कहा जाय कि यदि वे पत्नी और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बच्चे नहीं होते तो उन्हें दण्ड नहीं भोगना पड़ता परन्तु उनका पत्नी तथा बच्चे होना क्या उनके अपने संकल्प का परिणाम है ? शायद पत्नी के लिए यह कहा जा सकता हो, क्या बच्चों के लिए भी यह कहा जा सकता है ? शायद यहां यह कहा जाय कि जिस समाज में 'क' सदस्य था उसकी संरचना में ही ये सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं, तथा इन सम्बन्धों का एक विशेष प्रकार का होना, समाज के सदस्यों के लिए विशिष्ट प्रकार के परिणाम लाता है। यदि ऐसे समाज की कल्पना करें जिसमें 'क' को कारावास मिलने पर पत्नी तथा बच्चों की देखभाल समाज के अन्य सदस्यों पर, अथवा व्यवस्था पर आश्रित होती, तो वहां, स्पष्टतया इनके लिए भिन्न परिणाम होते। परन्तु हमारे समाज में, अथवा ऐसे ही किसी समाज में, जहां 'क' के किए फल अन्यों को भी भुगतना पड़ता है, वहां शायद मान्यता यह है कि बीवी-बच्चों का मोह 'क' को उस अविवेकपूर्ण कृत्य से बचा लेता। दूसरों को इससे सबक लेना चाहिए, और यदि उन्हें अपने बीवी बच्चों से मोह है, तो उन्हें ऐसे अविवेकपूर्ण कृत्यों से बचना चाहिए। अन्य शब्दों में, यद्यपि बीवी बच्चों ने ऐसा कुछ नहीं किया जो उन्हें 'क' के किए का फल भुगतना पड़े, उनका एक विशेष सामाजिक संरचना का अंग होना ही उनकी विपत्ति का कारण है। जिस प्रकार दैवी अथवा प्रच्छन्न व्यवस्था को न जानने पर कर्मफल की संगति हमें अप्राप्य होती है, उसी प्रकार समाज की संरचना को न समझने के कारण हम उसे नहीं देख पाते, दोनों ही अवस्थाओं में कर्म तथा फल का कोई सीधा सम्बन्ध हो, अथवा वे किसी एक सरल शृंखला का अंग हों, यह आवश्यक नहीं है। हमने यह देखा कि समाज की ऐसी संरचना की कल्पना सम्भव है, जिसमें यह सम्बन्ध अधिक निकट का हो। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि जिन विचारकों ने न्याय तथा दण्ड की उस व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें अपराधी का बहिष्कार नहीं किया जाता, अपितु उसके साथ लगभग उसी प्रकार का व्यवहार होता है जैसा रुग्ण व्यक्तियों के साथ। वे वस्तुतः ऐसी सामाजिक संरचना को प्रस्तुत करते हैं जिसमें कर्मफल की संगति अधिक तर्क संगत रूप में प्राप्त होती है।

इस विवेचन में जिन दो दृष्टियों की बात की गई है, वे महाभारत के मनीषियों के लिए अलग-अलग नहीं थीं। शान्तिपर्व में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि राजा तथा राज्य इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि सारी सामाजिक व्यवस्था इस सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब है। राजा के कर्त्तव्यनिर्वाह के अभाव में न केवल सारी व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती है, अपितु प्राकृतिक घटनाएँ भी अनियमित हो जाती हैं। वर्षा, ऋतुएँ मानव जीवन में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जीवन कल्याणमय हो तथा समृद्ध दिशा ले इसके साथ ऋतुओं का सहयोग अथवा उनकी अनुकूलता भी आवश्यक है। ऐसा लगता है कि समस्त चराचर जगत् की एक अखण्ड कल्पना तथा उसके आधार में एक न्यायिक

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था मानवीय समाज एवं व्यापार की समझ में आधारभूत स्थान रखती है। राजा का कर्त्तव्य न केवल दण्ड नीति द्वारा दुष्टों को दण्ड देकर मर्यादा को स्थापित करना, अपितु सभी वर्णों के त्रिवर्ग की रक्षा करना भी था। पूर्वापेक्षा यह लगती है कि सभी सदस्य अपना-अपना कर्त्तव्य शास्त्रविहित रूप में नहीं निभायेंगे, तथा एक दूसरे के धर्म क्षेत्रों में हस्तक्षेप करेंगे तो ऐसी अव्यवस्था जन्म लेगी जिसमें कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि नहीं कर सकेगा। व्यक्ति का कल्याण तथा एक निश्चित सामाजिक संरचना परस्पर इतने घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर राजा तथा परलोक में देवता इस संरचना की रक्षा करते हैं।

यह कल्पना बड़ी मोहक है, परन्तु फिर यही प्रश्न उठता है कि किसी भी समय समाज में विघटन आरम्भ ही कैसे हुआ? यहां महाभारत का सन्दर्भ देकर हमारा उद्देश्य महाभारत के मनीषियों के विचारों की मीमांसा नहीं है, अपितु केवल इस ओर ध्यान आकर्षित करना है कि कर्मफल की संगति का प्रश्न सामाजिक संरचना के प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि कर्मफल की संगति के विषय में हमें असन्तोष इसलिए होता है कि हम प्रथम तो कर्म को एक ऐसी सरल शृंखला के रूप में देखते हैं जो एक निश्चित आदि तथा अन्त रखती है, दूसरे इस शृंखला को हम एक अन्य शृंखला अर्थात् कारण-कार्य की शृंखला के उदाहरण के रूप में ले लेते हैं जहाँ हम दो घटनाओं में सीधे एक निश्चित संबंध मान बैठते हैं। दोनों ही अपेक्षाएं अनुचित हैं। कार्य तथा फल एक ही चीज नहीं है, दूसरे कर्म की आवश्यकता तथा पर्याप्त अवस्थाएँ हमें कर्म को एक जटिल व्यवस्था के अंग के रूप में देखने के लिए बाध्य करती हैं। □

जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किये किसी प्रकार न रह सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से कर्ता उद्देश्य-पूर्ति में सफल नहीं होता। अतः मानव मात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org